International Journal of Academic Research and Development
ISSN: 2455-4197
Impact Factor: RJIF 5.22
www.academicsjournal.com
Volume 2; Issue 5; September 2017; Page No. 989-990

लोक संस्कृति एवं लोकभाषाएँ

डॉ० मंजू सिंह
Principal, Jagraut Women College, Kherla Bujurg affiliated to Rajasthan University Jaipur, Rajasthan, India

प्रस्तावना

विश्व साहित्य के इतिहास पर व्यापक दृष्टि से विचार करते हैं तो हमें यह मालूम होता है कि सम्पूर्ण मानव जाति और उसके क्रियाकलापों के कुछ मौलिक और आधारभूत लक्षण ही लोक–संस्कृति को एक व्यापक रूप, गुण, विशिष्टता और श्रेष्ठ परम्परायें प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि लोक–संस्कृति मानव जाति को सन्तुलन और दृढ़ता प्रदान करती है।

लोक–संस्कृति के विषय में विचार करने का अर्थ और मन्तव्य यह है कि लोक–संस्कृति को जीवित रखने वाले मूल्यों, आदर्शों, विश्वासों और उसकी दिशा निर्धारित करने वाली शक्तियों के विषय में ठोस परिणाम प्राप्त किये जा सकें। जब हम विभिन्न कालीन लोक–संस्कृति के विषय में अध्ययन करते हैं कि तभी लोक–संस्कृति का व्यापक रूप स्पष्ट होता है।[1] अतः लोक–संस्कृति को पूर्णरूपेण समझने के लिये लोक एवं संस्कृति के अर्थ को समझ लेना हमारे लिये नितान्त जरूरी है।

लोक शब्द संस्कृत के 'लोक दर्शने' धातु से 'धञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।[2] इस धातु का अर्थ देखना है। जिसका लट् लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन का रूप 'लोकते' है। अतः लोक शब्द का अर्थ हुआ देखने वाला। इस प्रकार वह समस्त समूह जो देखने के कार्य को करता है लोक कहा जाता है। अतः 'लोक' शब्द का अभिप्राय उस समस्त जनसमूह से है जो किसी देश में निवास करता है। साधारण जनता के अर्थ में इसका प्रयोग ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर किया गया है :–

य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्।। [3]

(हे मनुष्यों ! जो ये दोनों अन्तरिक्ष और पृथिवी धन या ब्रह्माण्ड इस वर्तमान वाणी के जानने व धारण करने वाले उस प्रसिद्ध मनुष्य आदि प्राणिस्वरूप की रक्षा करता है जिस परमात्मा की हम प्रशंसा करते हैं उस सबके मित्र की ही उपासना आप लोग करें।)

वैदिक ऋषि कहता है कि ब्रह्म या मंत्र भारत जन की रक्षा करता है। ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध 'पुरुषसूक्त' में 'लोक' शब्द का व्यवहार जीव तथा स्थान दोनों ही अर्थों में हुआ है –

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं
शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्।
तथा लोकाँ अकल्पयन्।। [4]

(नाभि से अन्तरिक्ष की कल्पना की है। सिर भाग से विशाल आकाश की, पैरों से भूमि और कानों से दिशाओं की। इसी भांति सकल लोकों की कल्पना की है।)

संस्कृत व्याकरण के पिता महर्षि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में लोक तथा सर्वलोक शब्दों का उल्लेख किया है तथा इनसे ढञ् प्रत्यय करने पर ''लौकिक'' तथा 'सर्वलौकिकः' शब्दों की निष्पत्ति की है।[5] वररुचि ने भी अपने वार्तिकों में लोक शब्द का प्रयोग किया है। महाभाष्यकार पतंजलि ने भी जनसाधारण के अर्थ में लोक शब्द का व्यवहार किया है।[6]

भगवद्गीता में 'लोक' तथा लोक–संग्रह आदि शब्दों का प्रयोग अनेक स्थानों पर पाया जाता है। गीता में लोक संग्रह पर विशेष बल दिया है –

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।। [7]

श्रीमद्भगवद्गीता में 'लोक' शब्द के तीन अर्थ बताये गये हैं –

1. मनुष्य लोक आदि लोक।
2. उन लोकों में रहने वाले प्राणी।
3. शास्त्र (वेदों के अतिरिक्त सब शास्त्र)।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लोक शब्द का अर्थ 'जानपद' या 'ग्राम्य' नहीं बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समस्त जनता है जिसके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचिसम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल तथा अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिये जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उन्हें उत्पन्न करते हैं।

लोक शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाने के पश्चात् संस्कृति को समझना भी नितान्त आवश्यक है। संस्कृति शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। सम्+कृति। जिसका सामान्य अर्थ है–भली प्रकार किये जाने वाले व्यवहार। वास्तव में संस्कृति में व्यक्ति तथा समाज की वे क्रियायें, उत्पादन, व्यवहार संस्कार तथा परिष्कार सम्मिलित हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति तथा समाज के लक्षणों को पहचाना तथा सफलतापूर्वक परखा जा सकता है।

अतः संस्कृति वह जीवन–पद्धति है जिसकी स्थापना मानव व्यक्ति तथा समूह के रूप में निर्माण करता है वह उन आविष्कारों का संग्रह है जिनका अन्वेषण मानव ने जीवन को सफल बनाने के लिये किया है। इन अन्वेषणों में मानव तब सफल होता है जब वह अपनी

आत्मा तथा बाह्य संस्कार या प्रकृति दोनों का संस्कार करें। विश्व पर विजय पाकर भी मानव उन्नत हो सकता है। हमारे व्यक्तित्व का विकास ही सांस्कृतिक मूल्यों की अन्तिम परिणति है।[8]

संदर्भ

1. चौमासा–नर्मदा प्रसाद गुप्त, पृ. 12
2. सिद्धान्तकौमुदी–भट्टोजिदीक्षित–पृ. 417
3. ऋग्वेद–3/53/12, पृ. 353
4. वही–10/90/14, पृ. 461 (द्वितीय भाग)
5. अष्टाध्यायी–पाणिनी
6. महाभाष्य–पतंजलि–प्रथम आहिक–पृ. 20
7. श्रीमद्भगवद्गीता–3/20 पृ. 149
8. प्राचीन भारतीय संस्कृति–बी.एन. लूनिया, पृ. 610